E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

शिक्षा वेदाङ्ग

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

वेदों के प्राणभूत वेदाङ्गों में शिक्षा का प्राथमिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। यह शिक्षा वेदपुरुष का घ्राण (नाक) है–'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'। जिस प्रकार पुरुष सभी अङ्गों के यथास्थिति रहने पर एवं मुख-सौन्दर्य आदि से परिपुष्ट होने पर भी घ्राण (नाक) के बिना चमत्कारपूर्ण स्वरूप को नहीं प्राप्त करता है, निन्दित ही होता है, उसी प्रकार वेदपुरुष का स्वरूप शिक्षारूपी घ्राण के बिना अत्यन्त अशोभनीय और विकृत आकारवाला दिखायी देगा।

शिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए वेद-भाष्यकार सायणाचार्यजी कहते हैं- 'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा' अर्थात् स्वर एवं वर्ण आदि के उच्चारण प्रकार की जहाँ शिक्षा दी जाती हो, उपदेश दिया जाता हो, उसे 'शिक्षा' कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि वेदाङ्गों में उस शास्त्र को शिक्षा कहते हैं, जिससे ऋग्वेद आदि वेद मन्त्रों का अविकल यथास्थिति विशुद्ध उच्चारण हो।

इस महनीय शिक्षा शास्त्र का प्रयोजन तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है-'अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः – वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, संतान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः' अर्थात् वर्ण इस पद से अकारादि का, स्वर से उदात्तादि का, मात्रा से हस्व-दीर्घ-प्लुत का, बल से स्थान प्रयत्न का, साम से निषाद आदि स्वर का और संतान से विकर्षण आदिका ग्रहण होता है। संक्षेप में यही शिक्षा का प्रयोजन है। इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि वेदाध्ययन की अच्छी प्राचीन प्रणाली यह है कि प्रारम्भ में गुरु (शिक्षक) किसी मन्त्र का सस्वर उच्चारण स्वयं करे, तत्पश्चात् शिष्य सावधानी से सुनकर और अवधारणा करके उसका उच्चारण- अनुसरण करे। अतएव वेद का एक नाम 'अनुश्रव'

भी है अर्थात् अनु–पश्चात् जो सुना जाय वह है 'अनुश्रव'। इसीलिये कहा गया-'गुरोर्मुखाद् अनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः'।

वेद के समुचित उच्चारण के लिये स्वर का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। मुख्यतः स्वर तीन होते हैं- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। पाणिनि ने उनके लक्षण क्रमशः ये बतलाए हैं- 'उच्चैरुदात्तः', 'नीचैरनुदात्तः' और 'समाहारः स्वरितः' अर्थात् जिसके उच्चारण काल में आवाज को ऊँची की जाय वह उदात्त, जिसके उच्चारण-काल में आवाज को धीमी की जाय वह अनुदात्त तथा जिसके काल उच्चारण में आवाज को न ऊँची, न धीमी; बल्कि दोनों के बीच में रखी जाय अर्थात् जिसका उच्चारण समान (साधारण) रीति से किया जाय वह स्वरित होता है। इस प्रकार ऊँचे स्वर में उच्चारण के कारण उदात्त, मन्द स्वर में उच्चारण होने से अनुदात्त और दोनों के समावेश उच्चरित होनेके कारण स्वरित कहा गया है।

प्रायः देखा जाता है कि वेद के प्रत्येक शब्द में उदात्त स्वर अवश्य रहता है, शेष स्वर अनुदात्त होते हैं। इन अनुदात्तों में से कुछ अनुदात्त स्वर विशेष अवस्था में स्वरित हो जाते हैं। वेद में स्वर-प्रधानता का मुख्य कारण है अर्थ का नियमन। यहाँ तात्पर्य यह है कि शब्द के एकत्व होने पर भी स्वर के भेद से उनमें अर्थ-भेद हो जाता है। स्वर में एक सामान्य त्रुटि भी यदि हो जाती है तो अर्थान्तर अथवा अनर्थ हो जायगा। अतएव यज्ञ का विधिपूर्वक निर्वाह करना कठिन हो जायगा।

स्वर के भेद से अर्थ-भेद हो जाता है और भेद से महा अनिष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए 'इन्द्रशत्रु' शब्द को लीजिए। स्वरभेद इसके तीन अर्थ हो सकते हैं; यथा – इन्द्रस्य शत्रुः (षष्ठीतत्पुरुष); अर्थ हुआ इन्द्र का शत्रु जो व्यक्ति हो वह व्यक्ति। इन्द्रः शत्रुः यस्य स (बहुव्रीहि); अर्थ हुआ इन्द्र जिसका शत्रु हो वह व्यक्ति। इन दोनों अर्थों के अनुसार इन्द्र और शत्रु दोनों दो भिन्न व्यक्ति हैं। अब इन दोनों व्यस्त शब्दों के बीच कर्मधारय समास कीजिए– इन्द्र श्चासौ शत्रुश्च अर्थात् जो इन्द्र है वही शत्रु भी है। यहाँ इन्द्र और शत्रु इन दोनों शब्दों से एक ही व्यक्ति का बोध होता है। इन्द्र शत्रु, इस समस्त शब्द में चार स्वर हैं। यदि चतुर्थ स्वर उदात्त हो तो तत्पुरुष का, यदि प्रथम उदात्त हो तो बहुव्रीहि का, और यदि दूसरा और चौथा दोनों उदात्त हो तो कर्मधारय का अर्थ निकलता है। कथा

प्रसिद्ध है-'यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्'; अर्थात् स्वर दोष से ही इन्द्र वृत्रासुर का शत्रु (शातयिता= घातक) हो गया। अतः स्वर का सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि यथार्थ उच्चारण के लिये प्रत्येक वेद की अपनी-अपनी शिक्षा है जिन शिक्षाओंमें वेदानुकूल शिक्षाका विधान है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शिक्षा वह वेदांग है जिसके अध्ययन करने से हमें वैदिक स्वरों और शब्दों का शुद्धता-पूर्वक उच्चारण करने का ज्ञान प्राप्त होता है।

यह शास्त्र यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है; परन्तु इस पर लिखे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। एक अनुश्रुति के अनुसार 'जैगीषव्य' के शिष्य 'बाभ्रव्य' इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं। ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था भी इन्होंने ही की थी। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार आचार्य 'गालव' ने एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था। अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना से 'भारद्वाज-शिक्षा' का प्रकाशन हुआ है, जिसके रयियता 'भरद्वाजमुनि' माने जाते हैं। वेदों के शाखा भेद के कारण शिक्षाएँ भी विविध प्रकार के उच्चारण विधानों को प्रस्तुत करती हैं। पाणिनि ने भी एक शिक्षा-ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो पाणिनि-शिक्षा के नाम से प्राप्त होता है प्रत्येक वेद की अलग-अलग शिक्षाएँ हैं। आज केवल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-शिक्षा, सामवेद की नारद-शिक्षा, अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा ही सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त भी नारदीय शिक्षा, गौतम-शिक्षा, केशवी शिक्षा, लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा, आपिशलि-शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका-शिक्षा इत्यादि अनेक शिक्षाग्रन्थ प्राप्त होते हैं।